सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत ज्योतिबा फुले

प्राप्तिः 22.05.2021
स्वीकृतः 16.06.2021

डॉ0 माईकल
स्नातकोत्तर गाँधी विचार विभाग,
तिलकामाँझी भागलपुर, विश्वविद्यालय भागलपुर, बिहार
ईमेलः drmaikalbh@gmail.com

सारांश

समाजसुधारक, समाज प्रबोधक, विचारक, समाजसेवी, लेखक, दार्शनिक तथा क्रांतिकारी कार्यकर्ता थे। इन्हें महत्मा फुले एवं ज्योतिबा फुले के नाम से जाना जाता है। ज्योतिबा फुले के सामाजिक विचारों और सामाजिक क्रांति के अग्रदूत के रूप में उनके योगदान को रेखांकित करने की कोशिश की गई है। फुले ने वर्ण–जाति आधारित भारतीय सामाजिक ढाँचे के लिए ब्राह्मणों को जिम्मेदार माना है। फुले ने बताया कि विषमता को स्थायी आधार प्रदान करने के लिए ही वर्णव्यवस्था को ईश्वर प्रदत्त बताया गया। वे कहते हैं कि "ब्राह्मणों ने इनपर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर निजी स्वार्थ साधन हेतु कई 'ईश्वर प्रदत्त' ग्रंथों की रचना की। इन 'ईश्वर प्रदत्त' ग्रंथों में शूद्रों के उत्पन करने का उद्देश्य यह बताया गया है कि वह सेवा भाव से ऊपर के तीनों वर्णों की गुलामी करें और उन्हें प्रसन्न रखें ताकि अगले जन्म में उन्हें शुद्र जाति में जन्म न लेना पड़े। इन ग्रंथों के अध्ययन से बुद्धिजीवी वर्ग यह समझ जाएगा कि यह कपोलकल्पित है यह सचमुच ईश्वर द्वारा रचे गए या नहीं।" फुले के स्त्री शिक्षा, विधवा पुनर्विवाह आदि के योगदान की चर्चा की। प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास द्वारा फुले के योगदानों का उल्लेख करते हुए बताया है कि 19वीं सदी के मध्य और उत्तारार्द्ध में फुले ने जिन उपायों की वकालत की थी, वे ही 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में मुम्बई और मद्रास की गैर ब्राह्मण पार्टियों के कार्यक्रम के मुख्य बिंदु बन गए। 20वीं सदी में डॉ. अम्बेडकर ने फुले की विरासत को विकसित किया और पहली बार जाति के मसले को ऊपर से देखने के बजाय नीचे से देखने की कोशिश हुई। फुले के प्रभावों को आधुनिक सन्दर्भों में देखने–समझाने का प्रयास किया है।

प्रस्तावना

उमा चक्रवर्ती ने फुले को ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के सिद्धांत की सबसे पहले व्याख्या करने वाला माना है। उन्होंने भारतीय समाज में व्याप्त विसंगतियां जिनमें जाति, वर्ण, अस्पृश्यता और स्त्री पुरुष भेदभाव प्रमुख हैं, पर करारा प्रहार किया। वे ब्राह्मण को केवल जातिगत वर्ग नहीं मानते बल्कि कभी न बदलने वाले एक दृष्ट समूह के रूप में देखते हैं। उनका कहना था कि यदि ब्राह्मणों को समाज से कभी मान्यता प्राप्त करनी है, जो उन्हें हिन्दू धर्म के प्रति अपने दावे को त्यागना होगा क्योंकि वह उन्हें पृथ्वी के देवता का रूप प्रदान करता है– "जब सभी आर्यभट्ट ब्राह्मण अपना सारा बोगस धर्म साहित्य कूड़ेदान में फेंक दे और सभी मनुष्य से सत्य के आधार पर व्यवहार करना शुरू कर दें, जब निस्संदेह सभी स्त्री तथा पुरुष इस संसार के सृष्टा के सम्मुख नतमस्तक होंगे तथा आर्यों के कल्याण के लिए प्रार्थना करेंगे।"[1]

प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम. एस. श्रीनिवास ने लिखा है कि "अंग्रेजी राज और पश्चिमी उदारवादी बुद्धिवादी विचारधारा के नए सन्दर्भ में दक्षिण भारत का गैर ब्राह्मणवादी आन्दोलन जाति प्रथा की चुनौतियों के प्रति हिन्दू समाज के दबे कुचले हिस्से को एक प्रतिक्रया थी। इस आन्दोलन के संस्थापक पूना के ज्योतिबा फुले थे। माली जाति के इस व्यक्ति ने 1873 में सत्यशोधक समाज की स्थापना की, जिसका उद्देश्य जात पात पर विचार किए बिना मानव–मात्र की गरिमा को स्थापित करना था। कुछ अर्थों में फुले के सुधार मद्रास के गैर–ब्राह्मण आन्दोलन के कार्यक्रम की भविष्यवाणी कर रहे थे। उन्होंने शिक्षा की आवश्यकता को महसूस कर लिया था और 1848 में उन्होंने गैर–ब्राह्मण बालक–बालिकाओं के लिए एक स्कूल की स्थापना की। उन्होंने सेवाओं और स्थानीय संस्थाओं में सभी जाति के सदस्यों के लिए पर्याप्त प्रतिनिधित्व की मांग रखी।"[2]

सैद्धांतिक स्तर पर भी फुले ने शूद्रों (गैर–ब्राह्मणों) तथा अतिशूद्रों (दलितों) को गोलबंद करना चाहा। उनका तर्क था कि अतिशुद्र तथा दलित न केवल अपेक्षाकृत ज्यादा उत्पीड़ित हैं बल्कि उन्हें निम्न स्थिति में इसलिए कर दिया गया कि उन्होंने ब्राह्मण अधिपत्य के विरोध में वीरतापूर्ण संघर्ष किया था। महत्वपूर्ण बात जो उन्होंने बताई वह यह कि शुद्र तथा अतिशुद्र एक ही उत्पीड़ित तथा शोषित वर्ग में है। उन्होंने इस वर्ग के लोगों की तुलना अमेरिकी देश के मूलवासी इण्डियन तथा काले लोगों से की।[3]

फुले के समय में जाति तथा भारतीय समाज के समर्थन में प्रबल तर्क के रूप आर्य नस्ल का सिद्धांत पेश किया जाता था। फुले ने इसी सिद्धांत को अपना सिद्धांत रचने के लिए आधार बनाया। आर्य नस्ल के सिद्धांत को चर्चा के केंद्र में लाने में वेदों को यूरोपीय तथा भारतीय लोगों के बीच एक कड़ी के रूप में देखने वाले पुर्वरागी, ब्रिटिश प्रशासन और जनगणना संग्रकर्ताओं की अहम भूमिका थी। दरअसल उन्होंने खुद अपने द्वारा शामिल समाज को वर्गों में बांटा था। भारतीय अभिजात वर्ग और तिलक सरीखे लोगों ने इस सिद्धांत को ब्राह्मणों की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल किया था। फुले ने इस सिद्धांत को बिल्कुल उलट दिया। लगभग उसी प्रकार जैसे मार्क्स ने अपना प्रतिवाद तथा शोषण का सिद्धांत प्रतिपादित करने के लिए हंगेलियन द्वन्द्ववाद को उलट दिया था। फुले कहते हैं– ब्राह्मण सचमुच भारतीय–यूरोपीय विजेताओं के वंशज थे, लेकिन श्रेष्ठ होने की बजाय वे क्रूर तथा हिंसक आक्रमणकारी थे, जिन्होंने मूल रूप से एक उन्नतिशील तथा समतावादी समाज को हर प्रकार के छल–कपट तथा हिंसा का सहारा लेकर उलट दिया था। इस प्रकार उन्होंने एक ऐसी मिथक श्रृंखला गढ़ी–जो दूसरे मिथकों की तुलना में कहीं अधिक बुरी थी क्योंकि सिद्धांततः यह असमानता पर आधारित थी। उन्होंने (ब्राह्मणों ने) विजित जनों को अपने शास्त्र पढ़ने से भी रोका।[4]

यूरोपवासियों ने नये संसार की खोज के बाद अमेरिकी इण्डियन लोगों पर जो क्रूरताएँ की, उसकी तुलना निश्चित रूप से आर्यों के भारत आगमन तथा उसके हाथों यहाँ के आदि निवासियों के दासकरण से की जा सकती है। संक्षेप में यह भारत में ब्राह्मण प्रभुत्व का इतिहास है। वे शुरू–शुरू में गंगा तट पर बसे, जहां से वे पुरे भारत में फ़ैल गए। पर यहाँ के लोगों पर अपने पकड़ मजबूत रखने के लिए उन्होंने अनोखे मिथकों की श्रृंखला गढ़ी। समाज को जाति में बाँटा, क्रूर तथा अमानवीय कानूनों की संहिंता की रचना की, जिसकी मिसाल संसार में अन्य किसी देश में नहीं मिलती।[5]

फुले ने भारत के दासों और अमेरिका और अफ्रिका आदि के दासों में अंतर बताते हुए कहा कि भारत के दासों को आर्य ब्राह्मणों ने विजित कर दास बनाया और विदेशी दासों को दुष्ट लोगों ने जबरन पकड़कर यकायक दास बनाया। शेष सभी बातों में परिस्थितियों सामान हैं, कोई अंतर नहीं है। विदेशी दासों को जिन संकटों का सामना करना पड़ा, उन सभी संकटों को भारत के शूद्रों–अतिशूद्रों को ब्राह्मणों की ओर से सहन करना पड़ा।[6] वे आगे लिखते हैं कि ब्राह्मणों ने अन्य ब्राह्मणेत्तर जातियों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार तो किया ही, इसके साथ ही उन्होंने अनगिनत जातियों में बाँटकर एक तरह से उन्हें सजा सूना दी। फिर अपने अधीन रखकर उन्हें पूर्णरूप से गुलाम बना लिया और जातिवाद का निर्माण कर सभी शुद्र जातियों के विचारों में विभिन्नता का सृजन किया। इसका प्रतिफल हुआ कि जैसा चाहा सबों को अपने इशारे पर नचाया। कहावत है दो का झगड़ा तीसरे का लाभ। अर्थात् ब्राह्मणों ने जातिभेद पैदाकर सबको आपस में लड़वा दिया, और उनका शोषण कर ऐशो–आराम का जीवन व्यतीत कर रहे हैं।[7]

शूद्रों और अस्पृश्यों की तत्कालीन स्थिति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए फुले ने कहा कि– "संभवतः इस देश में ब्राह्मणों का शासन तीन हजार से भी अधिक वर्षों से है। विदेशी आर्यों ने इस देश के मूल निवासियों पर विजय प्राप्त करने के बाद उन्हें गुलाम और लाचार बनाकर समाज की मुख्यधारा से काट दिया। समय बिताने के साथ–साथ यह सभी बातें विस्तृत हो गई। आर्यों ने अपने हितों को रक्षा हेतु कई प्रयत्न किये। मूलः निवासियों की आर्यों पर निर्भरता बढ़ती गयी। बाद में उन्हें शिक्षा औरत प्रमुख कार्यों से बहिष्कृत कर अज्ञानी बनाया गया, ताकि वे इन आर्य कूटनीति की चालाकी का विरोध न कर सकें।"[8]

विषमता को स्थायी आधार प्रदान करने के लिए वर्ण व्यवस्था को ईश्वर प्रदत्त सिद्ध कर देना सबसे उपयुक्त था। ज्योतिबा फुले कहते हैं, ब्राह्मणों ने इस पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर निजी स्वार्थ साधन हेतु कई 'ईश्वर प्रदत्त' ग्रंथों की रचना की। उन 'ईश्वर प्रदत्त' ग्रंथों में शूद्रों के उत्पन्न करने का उद्देश्य यह बताया गया है कि वह सेवा भाव से ऊपर के तीनों वर्णों की गुलामी करें और उन्हें प्रसन्न रखें ताकि अगले जन्म में उन्हें शुद्र जाति में जन्म न लेना पड़े। इन ग्रंथों के अध्ययन से बुद्धिजीवी वर्ग यह समझ जाएगा कि यह कपोलकल्पित है या सचमुच ईश्वर द्वारा रचे या नहीं।[9]

वे आदर्श और सत्यवादी व्यक्ति में दुसरों के अधिकारों के प्रति सजग और सहिष्णु होने पर बल देते हुए कहते हैं, "हम सभी के निर्माता ने सभी मानव नारी–पुरुषों को धार्मिक तथा राजनितिक स्वतंत्रता दी है, उससे किसी दुसरे व्यक्ति को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाई जा सकती, यह मानकर जो कोई अपनी तरह दुसरे व्यक्ति को जानकर दूसरों को सताता नहीं, उसको सत्य आचरण करने वाला जानना चाहिए"।[10] इस प्रकार फुले ने चरित्रवान व सत्यवादी व्यक्ति को परिभाषित कर सही मार्ग दिखाया।

इसके लिए फुले ने एक वैकल्पिक धर्म की स्थापना की आवश्यकता महसूस की और अपनी अंतिम प्रमुख पुस्तक 'सार्वजनिक सत्यधर्म' में उदारवादी समतामूलक आस्तिकता की स्थापना की, जिसमें स्त्री–पुरुष समानता की जबर्दस्त अवधारणा प्रस्तुत की गयी है। धर्म निरपेक्षता, को कि हिन्दू को बहुसंख्यक मानकर चलती है और इसके साथ जुडी सभी समस्याओं की अनदेखी करती हैं, के विपरीत फुले ने हिन्दू धर्म के हर मुद्दे पर चोट की तथा इसकी वैधता को चुनौती दी। उन्होंने उसके आस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह खड़े किये। उनकी कृतियों में विशिष्ट बात यह है कि उन्होंने

हिन्दू धर्म को एक धर्म के रूप में मान्यता देने से भी इनकार किया। उनके अनुसार हिन्दू धर्म तर्कसंगत धर्म है ही नहीं। यह एक अंधविश्वास है, धूर्त्तता का विचार तथा प्रभुत्व कायम रखने के लिए निर्मित हथियार है। अपनी पुस्तक जिसमें पिता बौद्ध बन जाता है, माँ ईसाई और बेटी मुसलमान और बेटा एक सत्यधर्मवादी पर उसमें हिन्दू के लिए कोई स्थान नहीं है।[11]

उस समय भारत में विधवा पुनर्विवाह को धर्मशास्त्र विरुद्ध माना जाता था। इस संबंध में उन्होंने अंग्रेजी शासन से निवेदन करते हुए कहा था कि वैदिक धार्मिक कठोर विधान से विधवाओं को मुक्त कराए। इसलिए मैं यह अनुरोध करता हूँ कि किसी भी नाई को इन अभागी ब्राह्मणी विधवाओं का मुंडन करने की अनुमति न हो। वैदिक रीति–रिवाजों का पक्षपात इससे स्वतः सिद्ध है कि अगर विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं है तो विधुरों को यह अधिकार क्यों है? अगर विधुरों को यह अधिकार दिया जाता है तो असहाय विधवाओं को भी पुनर्विवाह का अधिकार अनिवार्य रूप से दिया जाय। इसमें कोई संदेह नहीं है कि स्वार्थी और धर्त्त किस्म के कानून निर्माताओं ने ही शास्त्र में स्त्रियों के लिए ऐसे अन्यायी और अतार्किक विधान रचे हैं।[12]

1857. में उनके द्वारा स्थापित 'सत्यशोधक समाज' ने तार्किकता, धार्मिक अनुष्ठानों में ब्राह्मण पुरोहितों के बहिष्कार और लडके–लड़कियां, दोनों की शिक्षा पर जोर दिया उनकी प्रमुख कृ तियों में नाटक, कविताएँ तथा विवादप्रिय रचनाएँ हैं, जिसमें ब्राह्मण–वाद पर चोट करती कविताएँ, शिवाजी पर गीत–गाथा और तीन पुस्तकें शामिल हैं। ये तीन पुस्तकें 'गुलामगिरी' जो जाति प्रथा पर प्रमुख रूप से केन्द्रित है, 'शेतकार्या का असूद' जो खेतिहरों पर जुल्म का बयान करती हैं तथा 'सार्वजनिक सत्य धर्म', जिसमें नये सिरे से ईश्वरवादी तथा समतावादी धर्म की रूपरेखा बताने की कोशिश की गयी है।[13]

फुले द्वारा मराठी भाषा में लिखित पुस्तक 'गुलामगिरी', जिसका प्राक्कथन अंग्रेजी में है, 1885 में प्रकाशित हुई, इसी वर्ष भारतीय राष्ट्रिय कांग्रेस की स्थापना हुई थीं लेकिन यह हिन्दू राष्ट्रवाद के पुरे उभार के पहले और उग्र राष्ट्रावाद के प्रमुख सचेतक बालगंगाधर तिलक की पहचान एक सामाजिक रुढ़िवादी तौर पर स्थापित होने से पहले का संसय थां फुले ने उन ब्राह्मणों पर जोरदार आक्रमण किया, जो अधिकांशतः मध्यमार्गी उदारवादी तथा समाज–सुधारक थे और प्रार्थना समाज, ब्रह्म–समाज. सार्वजनिक सभा और कांग्रेस जैसे संगठनों में शामिल थें फुले की नजर में ये सभी संगठन आम आदमी को धोखा देने तथा उच्च जातियों के वर्चस्व को स्थापित करने के उद्देश्य से प्रेरित, अभिजात कोशिशें थीं फुले जाति को दासता मानते थे। उनकी दृष्टि में जाति का अर्थ था गुलामी। और यह संयुक्त राज्य अमेरिका में अफ्रीकियों के गुलाम बानाए जाने जैसा ही पाशविक तथा क्रूरतापूर्ण था। उनके अनुसार भारत में जातिकरण पराधीनता तथा दमन पर आधारित तो था ही, छलकपट तथा धार्मिक विभ्रम भी इसके मूल में था। उच्च जातियों के लोगों ने जिस अवधारणा को हिन्दू धर्म का नाम दिया था, दरअसल इस प्रकार का छलकपट उसका मूल स्वभाव था।[14]

फुले शोषित वंचितों को शिक्षित–संगठित करने पर विशेष जोर देते है। फुले का यह तर्क कि ज्ञान, शिक्षा तथा विज्ञान ही शोषित जनों के विकास के अस्त्र हैं, उन सभी अभिजात वर्गीय सिद्धांत के विपरीत था, जो पश्चिमी विज्ञान को पूर्वी नैतिकता से जोड़ने चाहते थे। फुले का तर्क था भारतीय अपनी (ब्राह्मणवादी) परम्पराएँ नैतिक विकास के लिए पश्चिमी विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी को अपनाकर भी बनाए रख सकते हैं। फुले के लिए विद्या या ज्ञान ब्राह्मणवादी अनुष्ठानवादी शस्त्र

से बिल्कुल भिन्न था। ज्ञान उनके अनुसार समानता, मानव स्वतंत्रता तथा आर्थिक विकास का एक अस्त्र है। उन्होंने शुद्र तथा अतिशूद्रों के जागने तथा स्वतन्त्र रूप से सोचने की आवश्यकता पर लगातार जोर दिया।[15]

उन्होंने 1882 ई. में इन्टर शिक्षा आयोग के समक्ष अपने दिये बयान में शिक्षा को अधिक–से–अधिक जीवनोपयोगी बनाने की वकालत करते हुए कहा था कि, "सरकारी उच्च विद्यालय में दी जा रही शिक्षा का स्वरूप बिल्कुल उपयोगी नहीं है और न ही सामान्य जीवन की आवश्यकता के लिए जरुरी है। यह क्लर्क और स्कूल–अध्यापक बनाने के लिए ठीक है। मैट्रिकुलेशन की परीक्षा शिक्षकों और विद्यार्थियों दोनों की एकाग्रता और चिंतनशीलता को अनावश्यक रूप से लील डालती है। शिक्षण के निर्धारित पाठ्यक्रम में व्यवहारिक फल नहीं है, जो छात्रों के भविष्य के लिए, स्वतन्त्र जीवनयापन के लिए उपयोगी हो।[16] फुले ने स्त्रियों की शिक्षा के मसले को आधुनिक भारत में सबसे पहले उठाया। 19 अक्तूबर 1882 को शिक्षा आयुक्त से निवेदन करते हुए उन्होंने कहा कि "वे अधिक उदारता के साथ स्त्रियों की प्रथिमकता शिक्षा के लिए भी उपाय निकालें।[17]

फुले के सिद्धांत की एक प्रकार से आरंभिक ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक प्रभुत्वाद अंतर्विष्ट हैं। वर्ग–संघर्ष के सिद्धांत के विपरीत, उनके यहाँ विभिन्न समुदाय (शुद्र तथा अतिशूद्रों का खेतिहर समाज बनाम ब्राह्मणों का अधिकारी वर्ग तथा धार्मिक व्यवस्था) संघर्ष के कारक हैं। संपत्ति के बदलते हुए सम्बधों की जगह फुले विजय, शक्ति, राजसत्त्ता तथा विचारधारा को प्रेरक कारक मानते हैं।[18]

फुले ने न केवल विचारधारा और संस्कृति पर ही जोर दिया बल्कि हिंसा के कारकों तथा ऐतिहासिक विजय पर भी समान रूप से जोर दिया खेतिहर समाज को अपनी विचारधारा का केंद्र बनाया। फुले द्वारा खेतिहरों की गरीबी का सजीव चित्रण सूखे तथा भूमि के स्वामित्व के विषयों तथा आज जिसे 'वाटरशेड विकास' कहा जा सकता है, के प्रति उनकी अतिसंवेदनशीलता तथा उनकी तत्कालीन अफसरशाही की भर्त्सना, उन्हें कई प्रकार से विशेष आधुनिक बनाती है।[19]

समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास ने फुले के योगदानों का उल्लेख करते हुए कहा है कि, उन्नीसवीं सदी के मध्य और उत्तरार्द्ध में फुले ने जिन उपायों की वकालत की थी, वे ही इस सदी के पूर्वाद्ध में मुंबई और मद्रास की गैर–ब्राह्मण पार्टियों के कार्यक्रम के मुख्य बिंदु बन गए। प्रोफ़ेसर धुर्ये का अवलोकन है कि सेवाओं और स्थानीय निकायों में गैर–ब्राह्मणों को विशेष प्रतिनिधित्व दिए जाने की फुले की माँग, 19वीं सदी के अंतिम दशकों में तबतक अनसूनी ही रही थी, जब तक कि कोल्हापुर के महाराज (साहू छत्रपति) ने गैर–ब्राह्मणों की माँगों को बुलंद नहीं किया था। यह श्रेय मूलतः उन्हीं के प्रयासों को दिया जा सकता है कि मोंटेग्यु चेम्सफोर्ड सुधारों में मिश्रित मतदाताओं के माध्यम से गैर–ब्राह्मणों को विशेष प्रतिनिधित्व की माँग स्वीकार कर ली गई। इन सुधारों ने मुम्बई के लोगों को तीन राजनितिक दर्जों में बाँट दियाः पहले दर्जे में ब्राह्मणों और उनकी समवर्त्ती जातियाँ आती थी, दुसरे दर्जे में मध्यवर्त्ती जातियाँ, मराठे एवं अन्य शामिल थे और अंतिम दर्जे में अछूतों सहित अन्य पिछड़े वर्ग शामिल थे। इस सिद्धांत का उपयोग सरकारी पदों पर नियुक्तियों के दौरान भी किया गया।[20]

20वीं शताब्दी में अंबेडकर ने फुले की विरासत को विकसित किया और पहली बार जाति के मसाले को ऊपर से देखने के बजाय निचे से देखने की कोशिश की। पहली बार दलित समाज

अपने हितों के लिए चलाये जानेवाले आन्दोलन को अपने हाथ में लेता दिखाई दिया। 1918 और 1920 में उत्पीड़ित वर्ग के दो सम्मेलनों में अम्बेडकर ने वी. आर. शिंदे और नारायण चंदावरकर जैसे दलितों के स्थापित लेकिन गैरदलित नेताओं की कार्यदिशा को आड़े हाथों लिया। उन्होंने दावा किया कि 'उन संस्थानों और व्यक्तियों को उत्पीड़ित वर्गों के हितों की रक्षा करने का कोई अधिकार नहीं है जिनकी बागडोर अछूतों के हाथ में नहीं है।' इसक मतलब यह नहीं था कि अम्बेडकर प्रगतिशील और रेडिकल सोचनेवाले द्विजों को अपने आन्दोलन से दूर रखना थे। उन्होंने अपने कई आन्दोलनकारी कार्यक्रमों में ब्राह्मणों को शामिल न होने देने के प्रस्तावों का कड़ा विरोध किया। दरअसल उनकी कोशिश दलित नेतृत्व विक्सित करने की थी। गोलमेज सम्मेलनों के जरिये उन्होंने तत्कालीन राजनीती में अनूठे हस्तक्षेप किये।[21]

फुले के प्रभाव की ही देन थी कि डॉ. अम्बेडकर ने परम्परा के रास्ते को ठुकराने के साथ ही नेहरू और गाँधी के रवैये को भी अस्वीकार किया और मुक्ति के अपने तीन अलग परिप्रेक्ष्य विकसित किये। इनकी दागबेल उन्नीसवीं सदी में ज्योतिबा फुले ने डाल दी थी। फुले को ब्राह्मणवाद–विरोधी परियोजना मुक्ति के कई स्तरों को एक साथ स्पर्श करती थी इसका कोई प्रमाण नहीं है कि कभी बीसवीं सदी के महात्मा ने उन्नसवीं सदी के इस महात्मा से प्रेरणा ली हो लेकिन दलितों को स्पृश्यों, शूद्रों से जोड़ने के अभियान के पहले सूत्रधार फुले ही थे। गाँधी शुद्र–अन्त्यज संसर्ग को ब्राचण धर्म के दायरे के भीतर और फुले उसके बाहर घटित करना चाहते थे। फुले ने इसे बहुजन समाज करार दिया। गुलागिरी ख़त्म करने के लिए फुले का जोर भट्ट ब्राह्मणों यानी पुरोहितों का वर्चस्व ख़त्म करने पर था इसलिए वे चौथे और पंचम वर्ण से धर्म–कर्म करा सकनेवाले अपने खुद के पुरोहित तैयार करनी की अपील करते थे। अछूतों और शूद्रों को शिक्षित करने की पहली उल्लेखनीय मुहीम उन्होंने ही चलायी। फुले न होते तो अम्बेडकर भी न होते क्योंकि महारों के लिए पहली पाठशाला उन्होंने ही खोली थी। इसलिए अम्बेडकर ने अपने तीन गुरुओं में बुद्ध और कबीर के बाद फुले को स्थान दिया है। फुले के माध्यम से दलित आन्दोलन को दो तरह की विरासतें और मिली उन्होंने तटस्थता की थीसिस दी और कहा कि ब्रिटिश शासन धार्मिक रूप से निष्पक्ष है इसलिए सामाजिक संघर्ष में उसके प्रभाव का इस्तेमाल निचली जातियों के हित में किया जा सकता है। इसके अलावा फुले ने राजा वली के बहुजन औ आर्य–अनार्य संघर्ष में मिथकों की रचना की जिसमें बहुजनों के लिए अस्मिता–रचना के संभावनापूर्ण तत्व थे। फुले का चिन्तन कर्म और व्यूह–रचना आज भी दलित–बहुजन राजनीति और सामाजिक संघर्ष में तटस्थ शक्तियों का लाभ उठाने के सन्दर्भ में प्रासंगिक बनी हुई है।[22]

जी.पी. देशपांडे ने कहा है कि 'फुले पहले भारतीय प्रणाली निर्माता हैं।' क्योंकि यूरोप में हेगेल की तरह उन्होंने इतिहास को तार्किक आधार दिया है– "फुले के विचारों ने सिद्ध कर दिया कि भारतीय जनों के राजनितिक–सामाजिक संघंर्ष के आधार पर एक सर्वव्यापी सिद्धांत बनाया जा सकता है। फुले ने फोकॉल्ट से भी पहले ज्ञान तथा शक्ति की बातें उठाई। वस्तुत; फोकॉल्ट की उत्तर–आधुनिक कालीन व्याख्या तब प्रस्तुत की गयी, जब यूरोप ने 'इतिहास के अन्त' को वास्तविक रूप में देख लिया था। जबकि फुले की कोशिश संसार व समाज को ज्ञान रूपी अस्त्र से बदल[23] देने की थी

संदर्भ ग्रंथ

1. *'कलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ महात्मा ज्योतिबा फुले',* वॉल्यूम–11. पी. जी. पाटिल चयनित अंश का

अनुवाद (महाराष्ट्र सरकार, बम्बई, 1991), पृ0 32.
2. श्रीनिवास, एस. एन; *आधुनिक भारत में जाति,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2001, पृ0 **28**.
3. ओमवेट,गिल; *दलित दृष्टि,* अनुवाद–रमणिका गुप्ता एवं अकील कैस, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011, पृ0 **28–29**.
4. ओमवेट,गिल; *दलित दृष्टि,* अनुवाद–रमणिका गुप्ता एवं अकील कैस, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011, पृ0 **29**
5. फुले, ज्योतिबा, *समग्र वाड0मय,* (महाराट्र सरकार, बम्बई, 1990), , पृ0 **118–20**.
6. फुले, ज्योतिबा; 'गुलामगिरी', शंभुनाथ, *सामाजिक क्रांति के दस्तावेज,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004, पृ0 **772.**
7. फुले, ज्योतिबा; 'गुलामगिरी', शंभुनाथ, *सामाजिक क्रांति के दस्तावेज,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004, पृ0 **777.**
8. फुले, ज्योतिबा; 'गुलामगिरी', शंभुनाथ, *सामाजिक क्रांति के दस्तावेज,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004, पृ0 **769**.
9. फुले, ज्योतिबा; 'गुलामगिरी', शंभुनाथ, *सामाजिक क्रांति के दस्तावेज,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004, पृ0 **769–70**.
10. फुले, ज्योतिबा; 'गणपतराव दर्याजी थोरात के प्रश्नों का उत्तर देते हुए', शंभुनाथ (सं.) *सामाजिक क्रांति के दस्तावेज,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004. पृ0 **787.**
11. देखें 'कलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ महात्मा ज्योतिबा फुले', वॉल्यूम–11, पी. जी. पाटिल द्वारा चयनित अंश का अनुवाद (महाराष्ट्र सरकार, बम्बई, 1991), पृ0 **39–40**.
12. फुले, ज्योतिबा; 'बाध्यतामूलक वैधव्य पर मत', शंभुनाथ (सं.) **सामाजिक क्रांति के दस्तावेज,** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004. पृ0 **786.**
13. ओमवेट, गेल; पूर्वोक्त, पृ0 **28.**
14. ओमवेट, गेल; पूर्वोक्त, पृ0 **27–28**.
15. ओमवेट, गेल; पूर्वोक्त, पृ0 **32–33**.
16. फुले, ज्योतिबा; *हंटर शिक्षा आयोग के समक्ष बयान,* (19 अक्तूबर 1882), शंभुनाथ (स.), *सामाजिक क्रांति के दस्तावेज,* पूर्वोक्त, पृ0 **781–82.**
17. फुले, ज्योतिबा; *हंटर शिक्षा आयोग के समक्ष बयान,* (19 अक्तूबर 1882), शंभुनाथ (स.), *सामाजिक क्रांति के दस्तावेज,* पूर्वोक्त, पृ0 **782.**
18. ओमवेत, गेल; पूर्वोक्त, पृ0 **30–31**.
19. ओमवेट, गेल; पूर्वोक्त, पृ0 **30**.
20. श्रीनिवास, एम. एन.; *आधुनिक भारत में जाति,* पूर्वोक्त, पृ0 **28**.
21. दुबे, अभय कुमार; *आधुनिकता के आईने में दलित,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ0 **28–29**.
22. फुले के योगदान पर विस्तार के लिए देखें, *ज्योतिबा फुले रचनावली* (दो खंड), सं एल.जी.मेश्राम, 'विमलकीर्ति, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1994.
23. फुले, ज्योतिबा; ऐन इनकम्प्लीट रिनेसां, *सेमीनार पेपर्स* (सेंटर फॉर सोशल स्टडीज, सूरत, 1991), 'ए समरी ऑफ प्रॉसीडिंग्ज', पृ0 **9–10**.